सारंगमुनि प्रणीता सूक्ति द्वात्रिंशिका

सं. अमृत पटेल

चंद्रगच्छीय मडाहडीय शाखामां थई गयेला अने यदुसुन्दरकाव्यनां सर्जक श्रीपद्मसुन्दर गणिनां शिष्य श्रीसारंगमुनिअे जवालिपुर (जालोर)मां विक्रम संवत् १६५० मां गजनी यवनराज तरुण(?)नां राज्यकाळमां प्रस्तुत सूक्ति के सुवाक्य के सुभाषित द्वात्रिंशिकानी रचना करी छे. आ एक अपूर्व कहेवाय एवो प्रयास छे. कारण के मूळ कृति अपभ्रंशप्रधान लोकबोलीमां रचाई छे. एनी उपर कविअे पोते संस्कृतभाषामां वृत्तिनी रचना करी छे. जो के आवुं एक उदाहरण ध्यानमां आवे छे के लघुहरिभद्र उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजे जैनदर्शन मुजब द्रव्य-गुण-अने पर्यायनी मीमांसा करता ''द्रव्यगुणपर्यायनो रास' नामना ग्रन्थनी रचना ढालबद्ध गुजराती भाषामां करी छे तेनी उपर संस्कृतमां वृत्ति रचाई छे. आ द्वात्रिंशिका, तेनी मंगल आर्यानी वृत्ति मुजब 'दोधक-दोहा (१३ + ११ मात्रानां बंधारणवाळा) नामनां जातिछन्दमां निबद्ध छे, जे प्रसिद्ध (भगण x ३ x गागा = भानस भानस भानस गागानां बंधारणवाळा) दोधक छन्दथी भिन्न छे. (भीगौं दोधकं / छन्दोनुशासन २/१३०).

प्रस्तुत सम्पादनमां त्रण प्रतोनो उपयोग कर्यो छे. तेमां पाठान्तरो नहिवत् छे अने अमुक अशुद्धिओनुं सम्मार्जन पण अन्योन्य पाठोथी थयुं छे. एटले पाठभेदो नोंध्या नथी. आ त्रण हस्तप्रतो लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर-अमदावादना हस्तप्रत भण्डारनी छे. ते त्रणेय प्रतोमां २५ x ११ c.m. नां परिमाणनां त्रण-त्रण पानां छे. तेमांथी (१) भेटसूचि २८३०८ क्रमांकनी प्रथम प्रत सटीक छे. अने पं. नयनसुन्दरगणिए लखी छे. (२) भे.सू. १५२१२ क्रमांकनी बीजी-प्रतमां मात्र विवरण छे. (३) भे.सू. २०५०० क्रमांकनी त्रीजी प्रतमां मात्र मूळ कृति छे.

केटलाक शब्दो अने अर्थघटनो :

प्रस्तुत द्वात्रिंशिकामां केटलाक शब्दो अने वृत्तिमां करायेल अर्थ घटनो ध्यानार्ह छे. एवा केटलाक शब्दोनी सूचि आ प्रमाणे छे. शब्दनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगळ दोधकनो अंक आपेल छे.

१. गंभीर (वृत्ति) =नम्रजनोना गुणदोषनो विचार करनार, २. रक्ष =राखवुं, राखी लेवुं, ३. वपुरे =बापडां [बप्पुड =देशीनाममाला प. ३८७], ४. रुषि =कृपा, ४- वहोरइ =(व्यवहृ) व्यवहार करे छे, आपे छे. ५. सधर =समर्थ सद्धर / २ अने ६ सेव्य, सेवयत=सेवा शब्द उपरथी नामधातु प्रयोग. ६ नववीस =१८० > ९ x २०. २१ श्लाघयन्ति =श्लाघा शब्द उपरथी नाम धातु. ७ अने १० - सुवास = स्व > सुव + आश्रय = आस > सुवास =पोतानो आश्रय, तथा सुवास-सुगंध-आम चतुराई पूर्वक श्लेष करेल छे. एवुं ज पयोयुग =दूध अने पाणी बन्ने अर्थोनो हंसनां उदा० मां श्लेष कर्यो छे. ९. दुंग =परिताप १४. चटति = चढे छे. १५. जबाधि =सुगन्धित पदार्थ. जे मार्जार जेवा प्राणीनां शरीरमां उत्पन्न थाय छे. १७. कार =माहात्म्य, प्रभाव, १७. वृत्ति - झम्पयति =अडके छे. स्पर्शे छे. १९. अविनीतः अचतुराणि (वृत्ति)-असुन्दर. २१. सज्जन =मित्र, २४-वृत्ति कुसज्जन =कुमित्र. २३. गुडल-गंदु, झांखु, मेलु (पाणीना विशेषण तरीके वपरायुं छे.) २६, १० =सउ - सदृश=सरखुं-समान. २७- फुहडि =फुवड स्त्री. २८- तंबा =गाय, (देशीनाममाला ५.१) ३१. चीज =वस्तु. ३१. रुलिओ-(वृत्ति-)रुलितः =रोळ्यो, नाश पाम्यो.

सूक्ति द्वात्रिंशिका मांथी प्राप्त थतो उपदेश.

३२ पद्य प्रमाण प्रसतुत लघुकृतिमां विपुल विषयवैविध्य न होय ए स्वाभाविक छे. छतां भगवद्भक्ति, सौजन्य, दुर्जनसंगत्याग, नम्रता ए गुणाधार छे, वगेरे उपदेश-विषयो कवितामां सर्जाईने रम्य अने हृद्य बन्या छे.

प्रत्येक दोधकना पूर्वार्धमां उपदेश छे, अने उत्तरार्धमां तेनी पुष्टिमां उत्तम उदाहरणो छे. जेमके-

(१) भगवान दीनोद्धारक छे. शरणागतवत्सल छे. माटे तो श्रीरामे शरणागत बिभीषणने रावणगढनुं राज्य सोंपी दीधुं, (२) मूर्खने उपदेश हानिकारक बने छे. सर्पने दुग्धपान विषरूप ज बने छे.

(४) मोटानी महेरबानीथी बळ मळे छे. वराह-वानरोअे रामनी कृपाथी त्रिभुवनविजेता रावणनुं लंकाराज्य लई लीधुं. (५) कारण के समर्थनां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरणागतने मोरो शत्रु पण कंई कही शकतो नथी. जुओ शंकरनुं वाहन होवाने कारणे नांदीने, पार्वतीनुं वाहन सिंह जाति शत्रु होवा छतां कांई ज करतो नथी. (६) अहीं कविओ एक मोटी वात कही के समर्थ ज, अन्य समर्थने सहाय करी शके छे माटे समर्थनो ज सम्बन्ध राखवो. सेंकडो नदीओ नहीं, पण मेघ ज पर्वतनां संतप्त देहने शीत-शाता आपी शके छे. (७) श्रेष्ठ संगथी कनिष्ठ पण गुणान्वित बने छे. मलयगिरि उपरनां निम्ब वगेरे वृक्षो चन्दन ज कहेवाय छे ने ?, (८) एटले उत्तमजननो संग करवो. भले ने लोखंडनी बनी होय पण ते वींटी ललनानी अंगुलिमां तो शोभे ज छे. तमारा अवगुणो सज्जनसंगे कां तो दूर थशे कां तो ढंकाई जशे. (९) क्यारे पण अक्कड न थवुं, आपणी अकडाई तो थोडा ज दिननी महेमान होय छे, पछी तो समय जतां एवो झोल-झुकाव आवे छे के पाछा ऊभा थवुं पण मुश्केल लागे. (१०) जेनो संग करीओ तेनी चार बाबतोनी परीक्षा करवी १. माता-पितानी शुद्धि, २. खाणीपीणीनी शुद्धि, ३. नेत्रोनी निर्मलता, ४. मननी शुभ-इच्छाओ. जेनी आ चार वस्तु शुद्ध होय ते ज क्षीर-नीर विवेक करी शके छे. माटे राजहंस समान ए सज्जन जननी संगति योग्य छे. कारण के विवेकथी ज दोष-नाश थाय छे. (११) बाकी तो कांटा जेवी जीभवाळानी सोबत बहु नठारी. बोर साथे भळवाथी ज, मोदकमां मिश्र थईने पोषक बनवानो गुणधर्म धरावतो गोळ, मदिरानी जेम मादक बनी जाय छे. (१२) आथी ज दुर्जननो संग त्याज्य छे केमके दुर्जन, कां तो अंगारानी जेम बाळे, कां तो कोलसानी जेम हाथ काळा करे. (१३) माटे तो लोको दुर्जन, वांका, वांकदेखाने नवगजनां नमस्कार करे छे. अहीं कविओ सरस रीते, 'चन्द्रबीज कला' नमनमां कारण रजू कर्युं छे के 'अधुरी' छतां बीजनी चन्द्रकलाने बधा नमे छे, कारण के ते कुटिल वांकी छे अने पूनमनो चन्द्र सम्पूर्ण छतां कोई नमन करतुं नथी-कारण के सरळ छे. (१४) जो शरुआतमां कष्ट सहन करो, तो उच्चस्थाननी प्राप्ति ओ तेनुं फळ छे. कुंभारनां टपलां खाई खाईने घडायेल घडो, नमणी रमणीना मस्तके शोभे छे. (१५) सर्वत्र गुण ज प्रधान छे. जन्म के जन्मस्थळ नहीं. 'जबाधि' जे मार्जार शरीरमां पेदा थाय छे. पण ते सुगंधि होवाथी बधा अेने स्वीकारे छे. (१६) समर्थनो दोष कोई ना जुओ.- 'अर्धनारीनटेश्वर' शंकरने कोण निंदे छे ? अहीं याद आवे छे के.''समरथकुं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाहि दोष गुसांई.' (१७) समर्थथी बधा डरता पण होय छे. 'बळता अग्नि' ने नहि पण 'ठंडी राळ'ने बधा अडके छे. (१८) सन्तान उपर माता-पितानां संस्कार पडता होय छे. जूओ स्वाति नक्षत्रमां वर्षेलुं पाणी, छीपमां मोती बने छे. अने कदलीस्तम्भ-केळनां थड जेवा निःस्सार पदार्थमां पडतां कपूर बने छे. जे पवनमां ऊडी जतुं होय छे. ज्यारे मोती टकाऊ होय छे. (२०-२१) वस्तु सारी छे के नरसी छे ते योग्य अवसरे ज खबर पडे छे. एटले ज वर्षाऋतुमां मोरनो टहूको मीठो लागे छे अने शरदऋतुमां कर्णकटु. अर्थात् चक्रनेमिक्रमे सुख दुःखनी व्याख्या समयने आधीन छे. (२२) हवे नवो विषय लईने कवि अपमान सहन करनार करतां पेली धूळ वधु सारी के जे तेने लात मारे, तेनां माथे जईने पडे छे. (२३) कोई मित्र जो शत्रु बने तो, तेनाथी दूर जईने रहेवुं. ए माटेनुं सुन्दर उदाहरण अे छे के मरुदेशमां वर्षाद पडे त्यारे धूळ ने कारणे कादव थाय एटले स्वच्छ जलनो रागी राजहंस त्यांथी दूर जईने मानसमां वसे छे. (२४) अने मित्र जो आपणा दोषो जाहेर करे तो मित्रनो त्याग करवो. एटले 'मर्मभेदी' मित्र ए हकीकतमां शत्रु छे (२५) एम छतां कोईक वार घणा लोको आपणो विरोध करे तो आपणे मौन राखवुं, कारण के दुर्जयो हि महाजनः होय छे. (२६) हवे जो कोईक भूतपूर्व शत्रु आपणने अनुकूळ थईने स्नेह वर्षावे तो तेने आदर आपवो अर्थात् जूनुं वैर भूली जवुं. अेमां ज भलुं थाय छे. (२७) अने कंईक हितकारी बाबत होय तो एने सांभळीअे. (२९-३२) अहीं विषय बदलीने कवि स्वार्थनी वात जणावे छे के जगत स्वार्थी छे. वाछरडुं पण गायने त्यजी दे छे के ज्यारे एने धावनानी जरूर न होय. नीच जन पोते जेनाथी ऊंचे आवे छे तेने ज पाडे छे. एटले कवि कहे छे-जुओ धूम अग्निमांथी पेदा थयो अने ऊंचे आकाशमां जईने मेघरूप बनीने वर्षे छे अने अग्निने ज ओलवी नांखे छे, त्यारे जगतमां जन्म धारण करीने सहुअे यशोर्जन माटे प्रयास करवो, पण अपयश थाय एवुं न करवुं. आवो अपयश मोटे भागे 'पराई वस्तु' उपर नजर बगाडवाथी, अने लई लेवाथी थाय छे. बळवान रावण पण सीतानुं हरण करीने अपयशपूर्वक नाश पाम्यो. छेल्ले कवि जणावे छे के आ बधा सद्गुण-सद्व्यवहारनो सार एटलो ज के गमे के न गमे पण भगवंतनुं चरण-शरण स्वीकारो.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कविअे कृतिनां आरम्भ अने अन्तमां भगवद्‌भक्तिनी ज वात करी छे ए समग्र मानव भवना जीवनसाररूप सद्गुणो-बळ-नैतिकता-नम्रता परद्रव्यरनिस्पृहा बधुं ज भगवाननी भक्ति माटे उपयोगी छे. अने एनां फळ रूप पण छे.

—x—

श्रीपार्श्वजिनमानम्य पूर्वदिग्वाक्कृतां स्वयम् ।
सूक्तिद्वात्रिंशिकां भाव-भेदतो विवृणोम्यहम् ॥१॥

तत्रादौ निर्विघ्नतायै मङ्गलमाचरन् कविः सरस्वतीनमस्करणरूपं, प्राकृताविर्भूतभाषागुणतया प्राकृतगाथयैव तन्मङ्गलमाचष्टे.

यथा - सुहवरनाणनिआणं साणंदं सिरिसरस्सइं नमिउं ।
अप्पसुबोहसवित्तिं सुत्तिसुदुत्तीसिअं बेमि ॥१॥

अहं सूक्तिद्वात्रिंशिकां ब्रवीमि इति ग्रन्थाभिधानं लोकभाषया 'सुभाषित बत्रीशी' इति सूचितम् । तत्कथनप्रयोजनमाह - किंभूतां ? - आत्मनः सुबोधः - सुज्ञानवत्ता, तस्य सवित्रीमुत्पादयित्रीम् । अत एव लोकेऽपि ज्ञानवतो जनस्य सुवाक्यभाषणं यशःसज्ञाननं, प्रसिद्धमिदमेव प्रयोजनम्। किं कृत्वा ? - सानन्दं हर्षप्रकर्षेण, श्री सरस्वतीं नत्वा । कीदृशीं ? - शुभं कल्याणकारणं, वरं प्रधानं यत् ज्ञानं, तस्य निदानं मूलकारणम् । यदुक्तम् - "सरस्वतीप्रसादेन काव्यं कुर्वन्ति मानवाः" । इत्याद्युक्तिवशात्, इति प्रथमगाथार्थः ।

अतो दोधकवृत्तैरेव ग्रन्थग्रथनं, तदादावपि मङ्गलाचरणकरणार्थं पूर्वदोधके भगवद्भजनलक्षणप्रतिपादिनीं शिक्षां वक्ति

मूल-दोहा – 'भगत भाइ ! भगवंत भजि, गुहिर गरीबुनिवाज ।
देखि बिभीषन कुं दयउ, रावणगढ कुं राज ॥१॥

व्याख्या - हे भक्त ! सरलहृदय ! त्वं भावेन भगवन्तं भज सेवय । किंभूतं ? गंभीरं प्रणतजनगुणागुणादिविचारकारिणं । पुनः कीदृशं ? - गरीबुनिवाज इति दीनोद्धरणदक्षम् । तत्स्वरूपं दृष्टान्तेन दृ(द्र)ढयति - श्रीरामेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरणशरणागतं बिभीषणं दृष्ट्वा, रावणगढस्य लङ्कानगर्याः राज्यं, तदैव प्रदत्तम् ॥१॥

अथ रावणाय स्वस्त्रियोक्तं - रे ! शठ ! त्वं सीतां मा रक्ष, अनर्थमूलमित्यपि शासनमदं मन्यस्व, स्वयं विनष्टो [भावी च] । अत एव 'मूर्खोपदेशो न श्रेयान्' इति वक्तव्यतां विचिन्त्याऽऽह च -

मूल दोहा- मति म हारहु मूढ कुं, परगट दे परबोध !
विषधर कुं पय होइ विषु, कठिन उपाय हि क्रोध ॥२॥

व्याख्या - हे सज्जनाः ! मूढाय प्रकटं प्रत्यक्षं प्रतिबोधं दत्त्वा स्वमतिं मा हारयत इति, कण्ठशोषं मा कुरुत । तद्धेतुमाह - विषधरस्य पयो दुग्धं पीतमितिशेषः, विषमिव भूत्वा कठिनं क्रोधमुत्पादयतीति तात्पर्यम् ॥२॥

यदा प्रतिबोधं प्राप्याऽर्हन्तं भजति, तदा किं स्यात् ? इत्याशङ्किनः शास्ति -

मूल दोहा - रुषि करता की राउ कुं अबलुं हरइ-अभिमान ।
सिररूपी ससि-सूर कुं पकरइ राहु परांन ॥३॥

व्याख्या - कर्तुरर्थतः परमेश्वरस्य कृपाप्रभावेन अबलोऽपि महादीनोऽपि, राज्ञः सदैश्वर्यस्य अभिमानं हरति गर्वं त्याजयति । तदेव दर्शयति - कबन्धं विना केवलं शिरोरूपी राहुः ग्रहणपर्वदिने शशिनं सूर्यं च, महाबलवानिव ग्रसति इति तत्त्वार्थः ॥३॥

पुनरपि-

मूल दोहा - रुषि करता की राउ कुं, अबल वहोरहिं अंक ।
वपुरे वानर बंधि वरु लयउ महागढ लंक ॥४॥

व्याख्या - कर्तुः कृपया अबलाः, राज्ञे कलङ्कं ददति, यथा वराकैर्वानरैर्बलं बद्ध्वा त्रिभुवनविजयिनो रावणस्य महागढो महादुर्गो लङ्कालक्षणो गृहीतः । इति विचार्यम् ॥४॥

वानराणां रक्षाकरं रामं जेतुमसमर्थस्य रावणस्य शक्तिर्न स्फुरिता, इति विचारमाकलय्याऽथ कथयति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल दोहा - सधर सरण डरिं अरि सधर, जनमि न चितवहि जंग ।
हर-गिरिजा के वृषभ-हरि सुपरि रहइ इक संग ॥५॥

व्याख्या - सधरो माहात्म्यवान्, तस्य शरणं चरणसेवनं, तस्य भयेनेति, अस्य रक्षिता बलीयान् इति विचिन्त्येति, सधरो पि बलवत्तरोऽपि, अरिः सपत्नो, जन्मनि इति आजीवितान्तं, कलहं न चिन्तयति । तदेव दृष्टान्तेनाऽऽविर्भावयति- (हरेः) ईश्वरस्य यानं वृषः, पार्वत्या हरिः सिंहः, द्वावपि निर्विरोधवृत्त्या एकस्मिन् सङ्गे तिष्ठतः, परं वृषभस्य चेतसि किञ्चिदपि भयं नोत्पद्यते, तद् रक्षितुरेव निदानम्, इति भावार्थः ॥५॥

अथ कथमपि विपदं प्राप्य समर्थैः समर्थ एव सेव्यः यथाऽनडुहा महादेवः श्रितस्तथा - इति तात्पर्यमाविष्करोति -

मूल दोहा - सकज ! सुकजि सेवहु सकज, न धरहु नीच जगीस ।
गिरि तपु घन मेटति गुहिर, निफर नदी नव-वीस ॥६॥

व्याख्या - समर्थाः ! स्वकार्यसिद्ध्यर्थं समर्थानेव सेवयत परं विपत्प्रतीकाराय । नीचैर्वृत्तिपरेभ्योऽर्थान्नीचजनेभ्यः स्वाशापूरणं मा धारयत । यथा दृष्टान्तमाह - गिरेः महापर्वतस्य, तपं ग्रीष्मर्तुजनिततापं, मेघ एव बहु वृष्ट्वोपशामयति, पर नवविंशतिर्नद्यः इति विंशतिहीनं शतद्वयं नदीनामुपरि वहन्ति, तथापि निष्फला भवन्ति - इति, अर्थात् तापं न शमयन्ति, इति तत्त्वार्थः ॥६॥

अथ च सुपार्श्वसेवया हरवृषभ इव सुष्ठु नैव भवतीति सुवास-वास्तव्यविधिर्वरतर इति दर्शयितुकामो निरूपयति :-

मूल दोहा - सारंग पास सुवास के जिहिँ तहिँ बिधि रिधि जोइ ।
निंबादिक नग मलय के सोरंभ पावहिँ सोइ ॥७॥

व्याख्या - कविः स्वाभिधां स्वात्मोपदेशरूपद्वारेण परोपदिष्ट्या वक्ति कुहचित्, तत्र हे सारंग ! सुवासस्य इति स्वाश्रयस्य (१) सुरभिस्थानस्य (२), द्व्यर्थोऽयं शब्दोऽवगन्तव्यः । पार्श्वे समीपे वसनशीलस्येति शेषः, यथा कथञ्चित् प्रकारेण ऋद्धिः सम्पत् सम्पद्यते । यथोदाहरणहेतुना दृ(द्र)ढयति - मलय-पर्वतस्य निम्बादयोऽपि कटुतरतरवः, तेऽपि तदेव सौरभ्यं सुगन्धं प्राप्नुवन्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत एव लोकोक्त्या मलये चन्दनतरुसुरभिणा वायुप्रचारेण निम्ब-करीरादिषु (सुरभि) सम्भवतीति श्रुतमिह प्रसिद्धम् ॥७॥

अथवा यथा निम्बादिभिः सुसंसर्गतो माहात्म्यं प्राप्तं, तथोत्तम-करादिलग्नो निर्बलोऽपि जनः शोभते इति, एतदेवाऽऽहं -

मूल दोहा- उत्तम के आदरि अबल, सुन्दर पावइ सोह ।
ललना के करि लोह की, मुद्रा जनमन मोह ॥८॥

व्याख्या - उत्तमानां आदरेण महत्त्वप्रदानेन अबलोऽपि सर्वप्रकारेण क्षीणोऽपि सुन्दरां जगन्मोहजननीं शोभां प्राप्नोति । अमुमेवार्थं परार्थसंसूचित-दृष्टान्तेनोपदर्शयति - यथा ललनायाः विलासिन्याः करे स्थिता लेहस्य मुद्राऽङ्गुलीयकं तुच्छं निर्मूल्यं दुर्वर्णमपि सुसङ्गत्या जनानां मनांसि मोहयति-इत्यवधार्यम् ॥८॥

अथ पूर्वोक्तदोधके 'सुसङ्गः कार्यः' इत्युक्तं, स च स्वसरलतयैव सम्भवति, न तु स्तब्धवृत्त्या - इति विवेचनमाह-

मूल दोहा - इक तीखे अरु अतितबध, दरसि उपायहि दुंग ।
तिही कुं पतन नजीकतर, तरुणी कुच ज्युं तुंग ॥९॥

व्याख्या - एकतो ये प्रकृत्या तीक्ष्णाः, तथाऽतिस्तब्धाः अनमनशीलाः, पुन आत्मानं दर्शयित्वाऽन्येषां चेतसि वह्निवत् परितापमुत्पादयन्ति; तेषां पतनं अधोभावः स्तोकैरेव दिनैः अवगन्तव्यमित्यध्याहारः । यथा तदेव सूचयति - के इव ? - तरुणीनां तुङ्गा उन्नताः कुचा इव तेऽपि पूर्वोक्तदोषदूषिताश्चिरं नोदयोन्मुखास्तिष्ठन्ति, स्वल्पकालेनैव पतन्तीति भावः ॥९॥

अथ पूर्वोक्ततैक्ष्ण्यादिदोषपरिहारो विवेकवत्ता चैव स्यात्, सा कुत्र भवतीत्याशङ्क्याऽऽह-

मूल दोहा - पख-भख-चख-रुख जिही पवर, तिहीं तनि तकहु विवेक ।
पययुग पटंतरि हंस सओ, ओर न पंछी एक ॥१०॥

व्याख्या - येषां एते चत्वारः पदार्थाः प्रवराः श्लाघनीया भवन्ति । के ते १. प्रथमतः पक्षशुद्धिः मातृ(ता)पित्रोः पक्षद्वयं शुभम् । अथ भक्ष्यमाहारो मांस-मद्यादिरहितं विमलमनुच्छिष्टमिति यावत् । तृतीयं चक्षुः कुव्यापारवर्जकं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वालोकनपरं । तथा चतुर्थं 'रुख' शब्देन मनः-परिणतिः चित्तेच्छेति यावदुच्चैः पदं भवन्तीति चत्वारोऽपि प्रकारा उक्ताः, तेषां वपुषि शरीरान्तरिति । हे सज्जनाः इति शेषः । विवेकं युक्तायुक्तविचाररूपं, तर्कयत जानीत । तदेव स्पष्टयति - यथा 'पयोयुगस्य नीर-क्षीरैक्यस्य, पटंतरीति भिन्नकरणकारणो हंससदृशोऽपरः कोऽपि कश्चित् पक्षी नास्ति, येन हंसस्यैते पूर्वार्ध-प्रणीताश्चत्वारोऽपि पदार्थाः प्रवराः, क्रमेण शुद्धपक्षता, भक्ष्यं मुक्तारूपं, चक्षुर्निर्मलं गुणागुण[विवेक]परं, मनःपरिणतिरुच्चा, सुस्थानवासरुचिलक्षणेति रहस्यम् ॥१०॥

पूर्वं प्रतिपादिता विवेकिता नीचजनसङ्गत्यागादेव भवति, अन्यथा सन्तोपि गुणा गलन्तीत्युपदर्शनार्थमतो ब्रूते-

मूल दोहा - कंटकिकी संगति कीइं परि गुण की प्रतिकूल ।
मधुर द्रव्य मादक महा, मिश्रित बदरीमूल ॥११॥

व्याख्या - कण्टकिनां निजवाक्यकण्टकवेधोद्वेजितजगज्जनाः अर्थाद् महाकुटिलस्वरूपाः, तेषां सङ्गतिर्मेलः, तस्यां कृतायां पूर्वोपार्जित-गुणानां रीतिः प्रतिकूला विपरीता कुगुणरूपा भवति - इत्यधोऽमुमेवार्थं दृढयति-यथा बदर्याः कण्टकवत्याः मूलेन मिश्रितं मधुरद्रव्यं गुडप्रभृति, महामादकं मदजननं मदिरेव भवति - इति चिन्त्यम् ॥११॥

अथ यथा नीचेन सङ्गं न सङ्गन्तव्यं तथा न विरोद्धव्यमिति मतिचिन्तामाश्रित्य वदति-

मूल दोहा- दाखि म पेमु दुजीहसुं सुजन ! न करि संग्राम ।
जारइ जरत गहिओ जरन, सीत करइ कर स्यांम ॥१२॥

व्याख्या - हे सज्जन ! त्वं द्विजिह्वेन दुर्जनेन समं प्रेम मिलनं मा समुत्पादय, तथा संग्रामोऽपि, अर्थात् तप्तेन (शीतेन वा) तेन सार्धं समीपवर्त्तित्वं मा कुरु, द्विधाऽपि तद्धेतू आह - दुष्टस्वभावो ज्वलन्नग्निर्गृहीतः स्पृष्टः सन् करं ज्वलयति, तथा शीतस्वभावोऽग्निः सङ्गतः करं श्यामं करोतीति द्विविधं(धः) तप्त-शीतरूपोऽपि दहनो नाङ्गीक्रियते इति भावार्थः । अत्र हेतुवैपरीत्यदर्शनेन कदाचित् उत्तरार्धं पूर्वपक्षाश्रयणं कार्यं, परं द्वितीयः पक्षः सङ्गतिरूपो न कार्य एव, हेतुसमयेनाऽऽन्तरोक्तितात्पर्यत् ॥१२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ पिशुनाधिकारात् – अस्मिन्संसारे वक्रो जनः लोकान् संतर्जयतीति मनसि मन्यमानाः स्वसुखहेतवे तं बहुतरं पूज्यमिव सरलाः मन्यन्ते – इत्येनमेवार्थं श्रावयति–

मूलदोहा – कलिजुगमि जग कुटिलकुं, बहु मनि मांनहि बीह ।
चितऊ दुतीय चंद की लख जन बंदहि लीह ॥१३॥

व्याख्या – कलौ युगे अर्थात् दुष्टेऽस्मिन् तुर्ये युगे, जगच्छब्देन सर्वे लोकाः, कुटिलस्य वक्रस्वभावस्य मनुजस्य, भयं बहुतरं मनसि स्वचेतोन्तरे मन्यन्ते चिन्तयन्ति, अर्थात् स्वकार्यसिद्ध्यर्थं तमाश्रयन्ति । यथा दृष्टान्तं दर्शयति– हे ! सज्जनाश्चिन्तयत विचारयत, द्वितीयाचन्द्रस्य कुटिलवृत्त्या निर्णतां रेखामपि लक्षं जनाः वन्दन्ते, तदुदयदिशं सन्मुखमुद्दिश्य, न तथाऽनुक्तमपि पूर्णचन्द्रं सरलं कोऽपि प्रणमतीत्यर्थोऽवगम्यः ॥१३॥

सा तु पूर्वोक्तशशिलेखा देवपारणकृते स्वतनौ पराभवमनुभूय पश्चात् पुनः स्वसाहसोत्पादितदेवर्षिप्रसत्तेरुदयं क्रमेण प्राप्नोति इति लोकोक्तिं मनोगोचरीकृत्याऽन्तरदोधके तमेवार्थं दृढयति–

मूल दोहा – प्रथमु सहइ परिभव प्रगट, थिति तसु उंचहिं थान ।
घट घण घाइ घरिओ चढहि, नारीसीसि निदांन ॥१४॥

व्याख्या – यः कश्चिज्जनः प्रथमं कियत्कालं यावत्, परिभवं परकृतघातपातादिदुःखं सहते, तस्यैव कतिचिद्दिनान्तरं उच्चैः स्थाने स्थितिरवस्थानं भवति । अतस्तदेवार्थं हेतुना सङ्केतयति – यथा घनैः कुम्भकारकृतघातैर्घटितो घटः, निदाने पश्चादेव नारीशिरसि चटति स्थितिमालम्ब्य तिष्ठति – इत्यवधार्यम् ॥१४॥

अथ कथं मृत्पिण्डोत्पन्नो घटः पदमुच्चमेतीतिशङ्कानिराकरणाय पुनर्निगदति–

मूल दोहा – गुरुता होति नख्यत्रगुण, वर कुल बरु न विचारी ।
जन धनवंत जबाधि कुं पकरइ पाणि पसारि ॥१५॥

व्याख्या – हे सुजनप्रवर ! गुरुत्वमुच्चत्वं महत्त्ववत्त्वमिति यावत्, नक्षत्रगुणेनेति सद्भाग्ययोगजातजन्मना भवति, परं तत्र वरं प्रधानं कुलं, तस्य बलं कारणं मा विचारय ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतोऽग्रे तदेवोपदेशदर्शनद्वारा वदति – इति धनवन्तो जनाः जबाधमिति जात्यन्तरमार्ज्जारतनुसम्भूतं सुरभिवस्तु, तस्मै सन्तुष्टचित्ताः सन्त इति शेषः, पाणिं मानदानकारणं दक्षिणहस्तं प्रसार्य गृह्णते, परं तदा जन्मस्थानगुणागुणतां न चर्चयन्ति – इति भावः ॥१५॥

अथ च यथा सा पूर्वोक्तजबाधिः स्वगुणवशान्मान्या, तथा मान्यजनस्य पुनः लोकाः कलङ्ककारणमपि किञ्चिद् दृष्ट्वा न निन्दन्ति, तत्र पुनर्हेतुं नो वक्ति अतोऽग्रे दोधके । स चाऽयम्–

मूल दोहा – कुचरित देखि समत्थ कुं, कोइ न देतु कलंक ।
अरधनारि नट ईश कुं नितु जन नमइ निशंक ॥१६॥

व्याख्या – समर्थस्य परमैश्वर्यवतो जनस्य कुचरित्रमपि दृष्ट्वा तद्भाग्यतः, कोऽपि कलङ्कमपकीर्त्तिभावं न दत्ते । यथा दर्शयति – अर्धनारीनटेश्वराय सकलजनमनोवाञ्छितपूरणप्रभावाऽनुभावतः, निःशङ्कमिति सत्यभावनयैव लोका नित्यं सदा नमन्ति वन्दन्ते इति गुह्यम् ॥१६॥

पूर्वोक्तस्येशस्य वपुःप्रतापेन महत्त्वमिति कथयितुमनाः पुनः सूचयति–

मूल दोहा – वपु तप जहां तहां हइ विजयुं, किसहुं न वर विणु कार।
झंपि न कोऊ दिढ अगनि सर, छूअति सकल जण छार ॥१७॥

व्याख्या – येषां वपुषि शरीरे, अर्थात् स्वशक्तितोऽधिकः, प्रतापः समुल्लसति, तेषामेव विजयोऽस्ति, परं केषामपि बलं विना, कारः इति माहात्म्यं न भवति, यथापूर्वं तेजोवृत्तिमनुभूय, पश्चात् कथमपि निःप्रतापीभूतस्यैकस्यैव पदार्थस्योभयथाऽपि दृष्टान्तमुपदेशयति – यथा कोऽपि जनः दृढाग्निज्वालां न झम्पयति, नवि(नाऽपि) दूरतोऽपि सङ्क्रन्तुमिच्छति, सैव भस्मभावं प्राप्ता, तदा तामेव सकलजगत् श्वान-गर्दभादिप्रमुखमपि स्पृशति, परं काञ्चिद् भीतिमाकलयति, तथैवेदमपि रहस्यम् ॥१७॥

तत् पूर्वोक्तं प्रतापवत्त्वं क्षत्रियादिकुलजातस्यैव सम्भवति, न तु तद् हीनकुलजातस्य – इति प्रायोभावेनाऽमुमेवार्थं समर्थयति –

मूल दोहा – सन्तति सीत दुपाखकी, सहजि न उपजहि सूर ।
स्वाति-कदलीसुतउ सदा, भजि भजि जाइ कपूर ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या - द्विपक्षानुसारेण विमृष्टा शीता कातरस्वरूपा सन्ततिः सुतो वा सुता वा, सहजेनेति प्रायशः सूरा धृतिमन्तो नोत्पद्यन्ते । तदेव आह लोकोक्त्या - स्वातिबिन्दुतः समुद्भूतः कदलीसुतः रम्भास्तम्भजातः कर्पूरः नंष्ट्वा नंष्ट्वा याति । यदुक्तम् -

''संगइवसेण साईअजलं सियब्भं च केलिमज्झगयं ।
अहिमुहपडियं गरलं सप्पिमुहे मुत्तियं होइ ॥
तदा पक्षद्वयस्य शीतभाव एव नाशनमूलमिति स्पष्टार्थः ॥१८॥

अथ च स एव कर्पूरो बलवत्प्रकारान्तरेण मिरचादिसहायवत्तारूपेण तिष्ठति, अत एव सर्वोऽपि लोकः सहायमृते सफलबलभावं नाऽऽविष्करोतीत्येतदर्थमेवाह-

मूल दोहा - अतिबलवंत इकेल तन, जनमि न पावइ जीत ।
महिलालोयन मोह कुं, अंजनु विनु अविनीत ॥१९॥

व्याख्या - अतिबलवन्तोपि एकाकिनः स्वकायमात्रा एव, जन्मनि कदाचिदपि जयं न प्राप्नुवन्ति, तत् कथमिति तत्, दृष्टान्तमात्रेण सहायं तिरस्करोति- महिलामां लोचनानि तीक्ष्णदीर्घतरलभावभाञ्जि बलवन्त्यपि सहायीभूतमञ्जनं विना तरुणजनमनोमोहनार्थं, न विनीतानि अचतुराणि, न तथा शक्तिमन्ति भवन्ति - इति सत्यमेव चिन्त्यम् ॥१९॥

अथ च तान्येव लोचनानि अञ्जनवन्ति तारुण्यावसरैव (रे एव) शोभन्ते, न तु वृद्धावस्थायां रचिताडम्बरतया भान्तीति समयौचित्यमाह-

मूल दोहा - सारंग ! समयविशेषि सबु, भूषन-दूषन भेद ।
जरति युवति के अधर ज्युं, व्रणु अरु दंतविछेद ॥२०॥

व्याख्या - हे सारंग ! इति स्वामन्त्रणस्वरूपं परोपदिष्टिवचनमपि, सर्वोपि भूषण-दूषणरूपो भेदो, विचार इति, वक्तव्ये - 'अयं योग्योऽयमयोग्य' इति समयविशेषेणैव प्रस्तावौचित्येनैव भवति । तत्स्वरूपमुत्तरार्धेन निवेदयति - यथा जरत्या वृद्धायाः अधरे किञ्चिद्दन्तदशनं कथञ्चिज्जायते, तदा समयाभावेन लोकाः, विलोक्य इति वदन्ति - इति शेषः, अयं व्रणो विस्फोटोऽस्तीति, तथा युवत्या अधरे विस्फोटे पि जाते जनोक्तिरेवं स्यात् - दन्तक्षतोऽस्तीति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्यायोग्यत्वं समयवितर्केण तर्कयतीति स्पष्टम् ॥२०॥

सोऽपि समयः शुभो वाऽशुभः सुचिरं कालं न तिष्ठतीत्यर्थं, पुनः स्वसज्जनजनमनः प्रेरयति–

मूल दोहा – पंच पंच दिनहइ परम, परतिख जन परसंस ।
घनरितु मधुर मयूर सुर, सरदि सुघर सिर हंस ॥२१॥

व्याख्या – 'पञ्च पञ्च दिनानि' यावदित्युक्तिः प्रसिद्धा जनानां, सूदयवशेन प्रवराद्धुता प्रशंसा इति – 'अयं वाग्मी, समुपार्जकः शूरः' इत्यादिश्लाघारूपा भवति । न तु तादृश्येव यत्र तत्र सर्वकालं सम्भवति–इति तद्धेतुसूचकं वचनप्रपञ्चं प्रपञ्चयति – घनर्तौ मेघसमये मयूरस्यैव स्वरो मधुरः– इति लोक प्रशस्तिस्तथा च शरदि मयूरस्वरं कर्णकटुं विज्ञाय निन्दन्ति । तदा स्वरप्राधान्यात् 'हंसो गुणिनामुत्तमः' इति श्लाघां–आचष्टे कुर्वति इति नामधातुविवक्षायां श्लाघयन्ति – इति सत्यं युक्तं, यदुक्तं कालिदासकविना –

''कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ॥

पूर्वमेघदूते । इति तत्त्वम् ॥२१॥

इत्थं श्रुत्वा पूर्वोक्तबलसमयाधीनं सुखं जनेन स्वजनोपकारपूर्वकं शत्रावपकारस्तिरस्करणं कार्यम् – इत्युपदेष्टुं सोत्साहं वचो वक्ति–

मूल दोहा – दाहवचन रिपुके दहिओ, जो जणु बिणु रीस ।
सारंग ! ताथिं हि रज सकज, पदहत परसइ सीस ॥२२॥

व्याख्या – रिपोर्दाहोत्पादकवचनैर्विदग्धो यो जनः ईर्ष्यां विना 'नीरोषः सन् स्थितः, तल्लक्षणाज्जनात्, रजो रेणुरेव श्लाघ्यं, यद् व्रजन्मनुज–चरणाहतमुत्थाय त्वरितमेव तदाघातकस्य शीर्षं स्पृशति मलिनयति – इति मर्मोक्तिः ॥२२॥

अथ कथञ्चित् कोपि वयस्यः कालान्तरे कुप्यति, तदा किं कार्यमित्याशङ्क्याऽऽह–

मूल दोहा – बल्लभु जबु पेखि हु विमुख, बसि तबु विदुर ! विदूर ।
मरुदिशि रहइ न मोतचर, निरखि गुडल जलनूर ! ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या - यदा कश्चिद् वल्लभं विमुखं त्यक्तपूर्वरागं, हे विदुर ! चतुर इत्यामन्त्रणं, त्वं प्रेक्षेथाः पश्येस्तदा विदूरं अत्यन्तदूरं गत्वेति शेषः, वस वासं कुरु, मा तत्र तिष्ठेति शिक्षा, क इवेति ? - यथा जलस्वरूपं वर्षासु सपङ्कं निरीक्ष्य, 'मोतचर' इति मुक्ताभुक् हंसपक्षी मरुदेशे न तिष्ठति, वल्लभं जीवनं [जलं इति यावत्] विरङ्गं दृष्ट्वा दूरं मानससरसिं गत्वा सुखं वसति-इति वाक्यशासनमङ्गीकार्यमिति भावः ॥२३॥

तदा पूर्वोक्तं दूरवासस्वरूपं तत्कालमेवाऽविमृष्टं कथमाश्रयणीयमिति शङ्कापनोदाय भूयस्तदेव कारणं कथयति-

मूल दोहा - वल्लभ विरचि बिरंग हुआ, दोहि न हित के हेत !
इकु कुमीत अरु सेतकच, समदुहु के संकेत ॥२४॥

व्याख्या - रे सज्जन ! यदेति शेषः, वल्लभोपि विरच्येति दोषग्राही भूत्वा विरङ्गो भवति, प्राक्तनरङ्गमुत्सृजति, तदा हितहेतुः सुखकारणं न भविष्यति इति विचिन्त्यम् । यदुक्तम् -

"भग्ने चित्ते कुतः प्रीति-रथोऽप्रीतौ कुतः सुखम् " [ ] इत्यादि ।

तत् सदृशौपम्यहेतुद्वयं वक्ति, तत् कथमित्याह - उभयोः सदृशः सनः सङ्केतोऽर्थात्, दृष्टान्तो यथा, कयोरुभयोः ? - एकं तु कुमित्रं - कुसज्जनः, द्वितीयः श्वेतः कचः, तयोरिति, तावपि पूर्वं वल्लभौ यथा कथञ्चिद् भव्यतया रक्षणयोग्यौ । परं विरङ्गौ मर्मप्रकाशि-पलितरूपौ भवतस्तदा सुखोत्पादननिमित्तं निराकुरुतामेवेति रहस्यम् ॥२४॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपो यदैकः कश्चिद् दुर्मनाः जनः, पुनरेकं पलितं भवति, तदा स्वशक्त्यनुरूपं, तस्य त्यजनं क्रियते एव, परं यदा द्वयमपि कुसज्जनाः कुकचाश्च बहवो, यत्र तत्र विरुद्धं बहुशच्चिन्तयन्ति, तदा काऽनुशिष्टि-रिति प्रस्तुतमाचष्टे-

मूल दोहा - बहु मिलि रचहि बिरूप, विधि मत तबु सेवहु मीत ।
इक कारिक तिलपिंडकी अरु, भर पलीअण की रीत ॥२५॥

व्याख्या - यदा बहवो मिलित्वा सम्भूय, विरूपविधिं, दुःखो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्पादनप्रकारं, रचयन्ति कुर्वन्ति, तदा तान् मा विराधयत, मौनमालम्ब्य सेवध्वम्, हे मित्राणि ! सज्जना इति प्रबोधः, यदुक्तम्-

"बहुभिर्न विरोद्धव्यं, दुर्जयो हि महाजनः" [ ] इति वचोयुक्त्या तत्र लोकोक्त्यां व्याख्यानकथनेन दृष्टान्तद्वयं दर्शयति-यथा तिलपिण्डस्य कालिमा कुट्टनेन मिश्रीभूता कियती निःकास्यते, तत्र मौनमेव विधेयम्, पुनर्यथा पालितानां भरस्य रीतिः समागमस्तं कथं निराकर्तुं शक्तिर्विस्फुरति, समयौचित्यमेव विचिन्त्य तिरस्कारो न श्रेयानेव - इति स्पष्टार्थः ॥२५॥

इत्थं विरुद्ध-वल्लभविधिरुक्तः, परं कश्चित् परोऽपि सन् कदाऽपि केनचित् प्रकारेण प्रेमाऽऽविष्कुरुते, तदा किं करणीयमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाश्रयति-

मूल दोहा - पर जबु चिंतइ परमु हित, मिलि तबु दीजहि मांन ।
दोषसमै सुख देण कुं, ओषध सओ नांही आंन ॥२६॥

व्याख्या - यदा परोऽपि पूर्वमनिष्टोपि कश्चित्, परमं हितं सुखकारित्वेन प्रेम चिन्तयति, तदा तेनापि सङ्गम्य, मानमित्यादरो दीयते, अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति- यथा दोषसमये रोगोत्पत्तौ, सौख्यं दातुमर्थात्, प्रीतिजननं, औषध-सदृशमन्यत् किञ्चिदपि वस्तु न स्यादिति तदा तत्कटुकतरमपीष्टं भवति- इति तत्त्वम् ॥२६॥

तदप्यौषधं यदा स्वबन्धुसेवकादिभिः सुरक्षितं भवति, तदैव शुभमिति रक्षणाय प्रशस्तिं निरूपयति -

मूल दोहा - सारंग ! सकल सुवस्तु की रक्षकनि रुचि होइ ।
फेरि न फूहरि नारि के कुच अवलोकइ कोइ ॥२७॥

व्याख्या - सकलस्य समस्तस्य सुवस्तुनः मनःप्रमोदजनकस्य पदार्थस्य रुचिरिच्छा, रक्षकविशेषादेव भवति । यदुक्तम्-

"शस्त्रं शास्त्रं वाणी वेश्या वीणा नरस्तथा चाऽन्यत् ।
पुरुषविशेषं प्राप्ताः भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ [ ]

यदा रुचिरमपि कुचं न रक्षितमनिष्टतामुत्पादयति, तत्र हेतुं दर्शयति. यथा कश्चिदपि विलासी 'फूहडि' नार्याः देशविशेषोक्तिरियमिति, अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्खिनीयुवत्या असुसंभावितस्वशरीरस्वरूपायाः इति यावत्, कुचौ कुरीत्या रक्षितौ कथमप्येकवारं दृष्ट्वाऽत्यन्तं भग्नमनःपरिणामतया कोऽपि पुनर्नाऽऽलोकयति, अत एव वल्लभावप्यनिष्टौ जायेते – इति सत्यम् – ॥२७॥

मूल दोहा – सारंग ! स्वारथ सकल जग, परकजि किस हुं न पीर ।
तरणक त्रंबा कु तिजइ, खिणु अणपीवत खीर ॥२८॥

व्याख्या – सकलमपि जगत्, स्वार्थाय, स्वकार्यकरणशीलम्, परं कस्याऽपि परकार्यार्थं पीडा नास्ति, तदेवाऽऽह- तर्णको वत्सः क्षणमपि क्षीरमपिबन्, स्वार्थहानिवत्तया स्वविरहजनितदोषमविचार्येति शेषः 'तंबां' देशी भाषया, स्वजनन्यै(जननीं) धेनवे (धेनुं) तत्कालमेव त्यजति – इति स्वार्थश्चिन्त्यः ॥२८॥

अथ कथमपि वत्सतरोऽपि कृतघ्नतया वृद्धिं प्रापत्, स्वजननीं (च) तिरस्करोति–इति नीचस्वभावत्वमेव ते, नीचभावभावितो जनोऽप्येवं विदधाति–इत्येनमेवाऽर्थं दर्शयति –

मूल दोहा – वडपद जितु पाउहि विगुण, पखि तिन चिंतहि पाप ।
अगनि अंग धुंअ होइ घनु, अगनि बुझावहि आप ॥२९॥

व्याख्या – विगुणोऽर्थात् कृतघ्नः, यतः यस्मादेव, वडपदमुच्चपदवीं महत्त्वमिति यावत्, प्राप्नोति, तस्यैव पक्षे तदर्थमेव, पापं परिभवं पीडनं चिन्तयति, यथा हेतुमुदीरयति – अग्नेरेवाङ्गं वह्निसमुद्भूत एव धूमो, घनो मेघरूपो भूत्वा, स्वमुच्चतरं मन्यमानः वर्षित्वेति शेषः, आत्मना स्वयं, स्वोत्पत्तिनिमित्तभूतमग्निमेव विध्यापयति तिरस्करोति – इति दुर्जनाचारः ॥२९॥

अथ दुर्जनवृत्त्या लोकेऽपकीर्त्तिरेव सञ्जायते, अतोऽपवादकारणपरिहार-पूर्वं यशोग्रहणहेतुमालम्ब्याऽऽह च –

मूल दोहा – सारंग ! जगमि लेहु यस, म म गहि अपजस मूर ।
विधि दोऊ हुन्ति विपाक बसि, इक सुख इकु सिर सूर ॥३०॥

व्याख्या – हे सुजन ! त्वं जगन्मध्ये संसारे यशो गृह्णीष्वाऽर्जय । कदाचिदप्ययशोमूलं – अपवादं, मा मेति तर्जनसूचकमव्ययद्वयं सम्भाव्यम् । द्वयोर्विपाकवशे कार्योत्पत्तिसमये विधिः स्वरूपमेवं परिणमयतीदमेव द्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावयतिर- एकं तु लक्षसुखकारणं, अन्यद् दुरन्तं शिरःशूलं सन्तापजनकं भवेदिति भावार्थः ॥३०॥

सोऽपवादः परवस्तुविनाशा-ऽपहृतिलक्षण एवेति, तद्धेतुमुदीर्य शिक्षयति-

मूल दोहा - परमचीज परवस्तु परि, न धरहु जोर निसंक ।
सीत हरण रावण सधरु, रुलिओ जिही बिधि रंक ॥३१॥

व्याख्या - परमचीज इति भाषान्तरेणाऽत्यन्तमनोहरं वस्तु, तदुपरि भो ! सुगुणाः ! निःशङ्कम् निर्भयं यथा स्यात्तथा, जोर इति दुर्वृत्त्याऽऽलम्बं मा धरत मा प्रयुङ्ग्ध्वमित्यन्वयः । तद् द्रढयितुं दृष्टान्तं दर्शयति - यतः सीताहरणेन, सधरस्त्रिभुवनविजेताऽपि, रावणः रङ्कवत् यथा रुलितोऽर्थात् दुःखमनुभूय निस्सारमेव मृतः, तथाऽन्योऽपि भवतीति कुत्सिताचारः परिहार्यः इति शेषः ॥३१॥

सोऽपि लङ्कापतिर्यदा स्वविपद्विनिष्ठायै विमनस्कतयाऽपि स्वयं सीतामादरपूर्वकं समर्प्य रामेण सङ्गतोऽभविष्यत्तदा रामोऽपि विगतरुडभविष्यत्- इति सत्यमेवाऽर्थं सङ्केतयति -

मूल दोहा - रुचि अणरुचि सारंग ! रुचिर, परसे जगपति पाउ ।
जाणत अरु अणजाण कुं, सीत सुधासद भाउ ॥३२॥

व्याख्या - अत्र ग्रन्थपरिसमाप्त्यवसरमङ्गलाय कविः स्वाभिधान-ग्रहणेनात्मानुशासनविधये च, श्रीभगवच्चरणशरणरूपं श्रेयोऽनुशासनं निरूपयति- हे सारंग ! इति स्वपरप्रबोधकमामन्त्रणं, रुच्या स्वमनः सुपरिणत्या, तथा कार्यसिद्ध्यर्थम् - ! अरुच्याऽपि विमनस्कतया, जगत्पतेः परमेश्वरस्य पदौ स्पृष्टौ शरणीकृतौ रुचिरावेव सन्तापहारकावित्यममुमेवार्थं याथातथ्येनैकस्यैव वस्तुनः स्वभावस्वरूपं मनोगोचरीकृत्य स्पष्टयति - यथा जानते जनायेति यः पूर्वस्पृष्टामृतः शैत्यमवैति, तथा चाऽज्ञानाय, येन कदाचिदपि तत्स्वभावो न ज्ञातः, परमुभाभ्यां स्पृशद्भ्यां सुधायाः पीयूषस्य स्वभावः शीतस्तापनुदेव, परं कथमपि सहजवैपरीत्यं न स्यादिति । समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥३२॥

अथाऽनन्तरं स्वगण-गुरुनाम निरूपकां स्वकृतिप्रसरणकारणस्वजन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परितुष्टिप्रदार्थां प्राकृतगाथामाह -

मूल गाथा - इय **ससिगणधरवायग**-साराणं **पउमसुंदरगुरूणं** ॥
सीसेण कया एसा पसरउ पुण सुयणजणमुहओ ॥३३॥

व्याख्या - 'इति' इति ग्रन्थान्तमङ्गलोऽव्ययः, एषा **पद्मसुन्दरगुरूणां** शिष्येण **प्राक्कथिताह्वसारङ्गे**ण कृता रचिता '**सूक्तिद्वात्रिंशिका**', पुनः भूयो भूयः सुजनजनमुखात् प्रसरतु विस्तृणातु । अत एव यथा मया '**सुदंतबत्रीसी**' भाषिता तथा सर्वेपि सज्जनाः स्वयशोनुभूत्यै '**सुवाक्यद्वात्रिंशिका**' मेव वक्तुमुद्यता भवन्त्विति द्वितीयोऽप्यनुशिष्टलक्षणोऽर्थोऽवसेयः, किंविशिष्टानां **पद्मसुन्दर**गुरूणां ?- शशिगण० **चन्द्रगच्छे महडाहडीयशाखा**यामित्याध्याहारः । वराः प्रधानाः वाचकाः वाचनाचार्याः तेषां मध्येपि साराणामुत्तमानामिति स्वगुरुणां सद्गुणवत्ताप्रतिपादकं वचः सौख्यकरं श्रेयोर्थमिति स्वविनयतादिकरणकारणमिति । सम्पूर्णेयं '**सूक्तिद्वात्रिंशिका**' ॥३३॥

अथ कदाऽयं ग्रन्थः सञ्जात इति शङ्कानिराकरणाय विवरणान्ते श्लोकमाह-

पञ्चाशन्नृपसङ्ख्याके वर्षे विक्रमवत्सरात् ।
चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां ग्रन्थोऽयं रचितो मुदा ॥३४॥

द्वात्रिंशतां दोधकानां वृत्तैरत्यात्मबोधये ।
विवृतोऽपि स्वयं शीघ्रं विशोध्योऽतिविचक्षणैः ॥३५॥

श्रीजावालपुरे प्राज्यं राज्यं शासति शक्तितः ।
गजनीयवनाधीशे तरुणे तरणिप्रभौ ॥३६॥

यावच्छशि-रवी दीपमणी भातौ नभोगृहे ।
तावददोधकवृत्तानी-मानि नन्दन्तु सन्मुखे ॥३७॥

इति सूक्तिद्वात्रिंशिकाविवरणं समाप्तमिति, ग्रन्थाग्रवृत्तिसङ्ख्या १९८ । श्रीरस्तु, कल्याणमस्तु । सूत्रग्रन्थ ५० । **पं० नयनसुन्दरगणिना**ऽलेखि ॥श्रीः॥

२०३, B. एकता एवन्यू, बेरेज रोड,
वासणा, अमदावाद-७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org